भेद-विज्ञान : मुक्ति का सिंहद्वार

सभी भारतीय विचारणाएँ इस सम्बन्ध में एक मत हैं कि अनात्म में आत्मबुद्धि, ममत्वबुद्धि या मेरापन ही बन्धन का मूल कारण है। जो हमारा स्वरूप नहीं है, उसे अपना मान लेना— यही बन्धन है, इसलिए साधना के क्षेत्र में स्व-रूप का बोध आवश्यक माना गया। जिस प्रक्रिया के द्वारा स्वरूप-बोध उपलब्ध हो सकता है, वह जैन विचारणा में भेद विज्ञान कही जाती है। आचार्य अमृतचन्द्रसूरि कहते हैं कि जो कोई सिद्ध हुए हैं, वे इस भेद-विज्ञान से ही हुए हैं और जो कर्म में बंधे हैं वे इसी भेद-विज्ञान के अभाव में बंधे हुए हैं। भेद-विज्ञान का प्रयोजन आत्मतत्त्व को जानना है। साधना के लिए आत्मतत्त्व का बोध अनिवार्य है। प्राच्य एवं पाश्चात्य सभी विचारक आत्मबोध पर बल देते हैं। उपनिषद् के ऋषियों का सन्देश है कि आत्मा को जानो। पाश्चात्य विचारणा भी आत्मज्ञान, आत्मश्रद्धा और आत्म-अवस्थिति को स्वीकार करती है। लेकिन 'स्व' को जानना अपने-आप में एक दार्शनिक समस्या है, क्योंकि जो भी जाना जा सकता है, वह 'स्व' कैसे होगा? वह तो 'पर' का ही होगा। जानना तो 'पर' हो सकता है, 'स्व' तो वह है जो जानता है। 'स्व' ज्ञाता है, उसे ज्ञेय (ज्ञान का विषय) नहीं बनाया जा सकता और जब तक 'स्व' को ज्ञान का विषय नहीं बनाया जा सकता तब तक उसका ज्ञान कैसे होगा? ज्ञान तो ज्ञेय का होता है, ज्ञाता का ज्ञान कैसे हो सकता है? क्योंकि ज्ञान की प्रत्येक अवस्था में ज्ञाता ज्ञान के पूर्व उपस्थित होगा और इस प्रकार ज्ञान के हर प्रयास में वह अज्ञेय ही बना रहेगा। ज्ञाता को जानने की चेष्टा तो आँख को उसी आँख से देखने की चेष्टा की भाँति होगी। जिस प्रकार आग स्वयं को जला नहीं सकती, नट स्वयं के कन्धे पर चढ़ नहीं सकता, वैसे ही ज्ञाता व्यावहारिक ज्ञान के माध्यम से स्वयं को नहीं जान सकता। ज्ञाता जिसे भी जानेगा वह तो ज्ञाता के ज्ञान का विषय होगा और ज्ञाता के ज्ञान का विषय होने से ज्ञाता से भिन्न होगा। अत: आत्मा स्वयं अपने द्वारा नहीं जानी जा सकेगी, क्योंकि उसके ज्ञान के लिए किसी अन्य ज्ञाता की आवश्यकता होगी और यह स्थिति हमें तार्किक दृष्टि से अनन्तता के दुश्चक्र में फँसा देगी।

इसीलिए उपनिषद् के ऋषियों को भी कहना पड़ा था कि विज्ञाता को कैसे जाना जाए? केनोपनिषद्[1] में कहा गया है कि वहाँ तक न तो किसी इन्द्रिय की पहुँच है, न वाणी और मन की, अत: उसे किस प्रकार जाना जाए यह हम नहीं जानते, वह हमारी समझ से परे है। यह विदित से अन्य ही है तथा अविदित से भी परे है, जो वाणी से प्रकाशित नहीं है, किन्तु वाणी ही जिससे प्रकाशित होती है, जो मन से मनन नहीं किया जा सकता बल्कि मन ही जिससे मनन किया हुआ कहा जाता है। जिसे कोई नेत्र द्वारा देख नहीं सकता वरन् नेत्र ही जिसकी सहायता से देखते हैं, जो कान से नहीं सुना जा सकता वरन् जिसके होने पर कानों में सुनने की शक्ति आती है।' इस प्रकार हम देखते हैं कि उपनिषद् का ऋषि भी 'आत्म' या 'स्व' के बोध को एक जटिल समस्या के रूप में ही पाता है। वास्तविकता तो यह है कि यह आत्मा ही सम्पूर्ण ज्ञान का आधार है, उसे ज्ञेय कैसे बनाया जाए? तर्क भी अस्ति और नास्ति की विधाओं से सीमित है, वह विकल्पों से परे नहीं जा सकता, जब कि आत्मा या स्व तो बुद्धि की विधाओं से परे है। आचार्य कुन्दकुन्द ने उसे नयपक्षातिक्रान्त कहा है। बुद्धि या तर्क भी ज्ञायक आत्मा के आधार पर ही स्थित है। वे आत्मा के समग्र स्वरूप का ग्रहण नहीं कर सकते।

मैं सब को जान सकता हूँ, लेकिन उसी तरह स्वयं को नहीं जान सकता। शायद इसीलिए आत्मज्ञान जैसी घटना भी कठिन और दुरूह बनी हुई है। वास्तविकता यह है कि आत्मतत्त्व अथवा परमार्थ अज्ञेय नहीं है, लेकिन वह उसी प्रकार नहीं जाना जा सकता जिस प्रकार से हम सामान्य वस्तुओं को जानते हैं। निश्चय ही आत्मज्ञान अथवा परमार्थ-बोध वह ज्ञान नहीं है जिससे हम परिचित हैं। परमार्थ-ज्ञान में ज्ञाता-ज्ञेय का सम्बन्ध नहीं है, इसीलिए उसे परम ज्ञान कहा गया है, क्योंकि उसे जान लेने पर कुछ भी जानना शेष नहीं रहता है; फिर भी उसका ज्ञान पदार्थ-ज्ञान की प्रक्रिया से नितान्त भिन्न होता है। पदार्थ-ज्ञान में विषय-विषयी का सम्बन्ध है, जबकि आत्मज्ञान में विषय-विषयी का अभाव। पदार्थ-ज्ञान में ज्ञाता और ज्ञेय होते हैं, लेकिन आत्मज्ञान में ज्ञाता और ज्ञेय का द्वैत नहीं रहता। वहाँ तो मात्र ज्ञान होता है। वह शुद्ध ज्ञान है, क्योंकि उसमें ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय तीनों अलग-अलग नहीं रहते। ज्ञान की इस पूर्ण शुद्धावस्था का नाम ही आत्मज्ञान है। इसे ही परमार्थ-ज्ञान कहा जाता है। लेकिन प्रश्न तो यह है कि ऐसे विषय और विषयी से अथवा ज्ञाता और ज्ञेय से रहित ज्ञान की उपलब्धि कैसे हो? साधारण व्यक्ति जिस ज्ञान से परिचित है वह तो ज्ञाता और ज्ञेय का सम्बन्ध है, अत: उसके लिए ऐसा कौन-सा मार्ग प्रस्तुत किया जाए, जिससे वह इस परमार्थ-बोध को प्राप्त कर सके।

यद्यपि यह सही है कि आत्मतत्त्व को ज्ञाता-ज्ञेयरूप ज्ञान के द्वारा नहीं जाना जा सकता; लेकिन अनात्मतत्त्व तो ऐसा है जिसे इस ज्ञाता-ज्ञेयरूप के ज्ञान का विषय बनाया जा सकता है। सामान्य व्यक्ति भी इस साधारण ज्ञान के द्वारा इतना तो जान सकता है कि अनात्म, या उसके ज्ञान के विषय क्या हैं? अनात्म के स्वरूप को जानकर आत्म से विभेद स्थापित किया जा सकता है और इस प्रकार परोक्ष विधि के माध्यम से हम आत्मज्ञान की दिशा में बढ़ सकते हैं। सामान्य बुद्धि चाहे हमें यह न बता सकती हो कि परमार्थ क्या है? किन्तु निषेधात्मक-विधि द्वारा साधक परमार्थ-बोध की दिशा में आगे बढ़ सकता है। जैन, बौद्ध और वेदान्त दर्शनों की परम्परा में इस विधि

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

का बहुलता से निर्देश हुआ है। इसे ही 'भेद-विज्ञान' या 'आत्म-अनात्म विवेक' कहा जाता है। अगली पंक्तियों में हम इसी भेद-विज्ञान को जैन, बौद्ध और गीता की विचारणा के आधार पर प्रस्तुत कर रहे हैं।

जैन विचारणा में भेद-विज्ञान

आचार्य कुन्दकुन्द 'समयसार'[२] में इस भेद-विज्ञान की प्रक्रिया को स्पष्ट करते हुए लिखते हैं— 'रूप आत्मा नहीं है, क्योंकि वह कुछ नहीं जानता, अत: रूप अन्य है और आत्मा अन्य है, ऐसा जिन कहते हैं।

'वर्ण आत्मा नहीं है, क्योंकि वह कुछ नहीं जानता, अत: वर्ण अन्य है और आत्मा अन्य है, ऐसा जिन कहते हैं।

'गंध आत्मा नहीं है, क्योंकि वह कुछ नहीं जानता, अत: गंध अन्य है और आत्मा अन्य है, ऐसा जिन कहते हैं।

'रस आत्मा नहीं है, क्योंकि वह कुछ नहीं जानता, अत: रस अन्य है और आत्मा अन्य है, ऐसा जिन कहते हैं।

'स्पर्श आत्मा नहीं है, क्योंकि वह कुछ नहीं जानता, अत: स्पर्श अन्य है और आत्मा अन्य है, ऐसा जिन कहते हैं।

'कर्म आत्मा नहीं है, क्योंकि कर्म कुछ नहीं जानता, अत: कर्म अन्य है और आत्मा अन्य है, ऐसा जिन कहते हैं।'

'अध्यवसाय आत्मा नहीं है, क्योंकि अध्यवसाय कुछ नहीं जानता (मनोभाव भी किसी ज्ञायक के द्वारा जाने जाते हैं, स्वत: कुछ नहीं जानते— क्रोध के भाव को जानने वाला ज्ञायक उससे भिन्न है), अत: अध्यवसाय अन्य है और आत्मा अन्य है।

'अपने शुद्ध ज्ञायक स्वरूप की दृष्टि से आत्मा न राग है, न द्वेष है, न मोह है, न क्रोध है, न मान है, न माया है, न लोभ है। अपने शुद्ध ज्ञायक स्वरूप में वह इनका कारण और कर्त्ता भी नहीं है'।[३]

वस्तुत: आत्मा जब अपने शुद्ध ज्ञाता स्वरूप में अवस्थित होती है, संसार के समस्त पदार्थ ही नहीं वरन् उसकी अपनी चित्तवृत्तियाँ और मनोभाव भी उसे 'पर' (स्व से भिन्न) प्रतीत होते हैं। जब वह 'पर' को 'पर' के रूप में जान लेता है और उससे अपनी पृथक्ता का बोध कर लेता है, तब वह अपने शुद्ध ज्ञायक स्वरूप को जानकर उसमें अवस्थित हो जाता है। यही वह अवसर होता है, जब मुक्ति का द्वार उद्घाटित होता है, क्योंकि जिसने पर को पर के रूप में जान लिया है उसके लिए ममत्व या राग कोई स्थान ही नहीं रखता है। राग के गिर जाने पर वीतराग का प्रकटन होता है और मुक्ति का द्वार खुल जाता है।

भेद-विज्ञान की इस प्रक्रिया में आत्मा सब से पहले वस्तुओं एवं पदार्थों से अपनी भिन्नता का बोध करती है। चाहे अनुभूति के स्तर पर इनसे भिन्नता स्थापित कर पाना कठिन हो, किन्तु ज्ञान के स्तर पर यह कार्य कठिन नहीं है; क्योंकि यहाँ तादात्म्य नहीं रहता है, अत: पृथकता का बोध सुस्पष्ट रूप से होता है। किन्तु इसके बाद क्रमश: उसे शरीर से, मनोवृत्तियों से एवं स्वयं के रागादि भावों से अपनी भिन्नता का बोध करना होता है, जो अपेक्षाकृत कठिन-कठिनतर है, क्योंकि यहाँ इनके और हमारे बीच तादात्म्य का बोध बना रहता है। फिर भी हमें यह जान लेना होगा कि जो कुछ पर के निमित्त है वह हमारा स्वरूप नहीं है। हमारे रागादि भाव भी पर के निमित्त ही हैं, अत: वे हम में होते हुए भी हमारे निज रूप नहीं हो सकते। यद्यपि वे आत्मा में होते हैं फिर भी आत्मा से भिन्न हैं, क्योंकि उनका निजस्वरूप नहीं है। जैसे उष्ण पानी में रही हुई उष्णता, उसमें रहते हुए भी उसका स्वरूप नहीं है, क्योंकि वह अग्नि के संयोग के कारण है वैसे ही रागादिभाव आत्मा में होते हुए भी उनका अपना स्वरूप नहीं है। यह स्वरूप-बोध ही जैन साधना का सार है, जिसकी विधि है— भेद-विज्ञान अर्थात् जो 'स्व' से भिन्न है उसे 'पर' के रूप में जानकर उसमें रहे हुए तादात्म्य-बोध को तोड़ देना। वस्तुत: भेद-विज्ञान की यह प्रक्रिया हमें जैन दर्शन के अतिरिक्त अन्य दर्शनों में भी उपलब्ध होती है।

बौद्ध विचारणा में भेदाभ्यास

जिस प्रकार जैन साधना में सम्यक्-ज्ञान का वास्तविक उपयोग भेदाभ्यास माना गया उसी प्रकार बौद्ध साधना में भी प्रज्ञा का वास्तविक उपयोग अनात्म की भावना में माना गया है। भेदाभ्यास की साधना में जैन साधक वस्तुत: स्वभाव के यथार्थज्ञान के आधार पर 'स्व' स्वरूप (आत्म) और 'पर' स्वरूप (अनात्म) में भेद स्थापित करता है तथा अनात्म में रही हुई आत्मबुद्धि का परित्याग कर अन्त में अपनी साधना के लक्ष्य अर्थात् निर्वाण की प्राप्ति करता है। बौद्ध साधना में भी साधक प्रज्ञा के सहारे जागतिक उपादानों (धर्म) के स्वभाव का ज्ञान कर, उनके अनात्म स्वरूप में आत्मबुद्धि का परित्याग कर, निर्वाण का लाभ करता है। दोनों ही विचारणाएँ यह स्वीकार करती हैं कि स्वभाव का बोध होने पर ही निर्वाण की उपलब्धि होती है। अनात्म के स्वभाव का ज्ञान और उसमें आत्मबुद्धि का परित्याग, दोनों दर्शनों में साधना का अनिवार्य तत्त्व है। जिस प्रकार जैन विचारकों ने रूप, वर्ण, देह, इन्द्रिय, मन और अध्यवसाय आदि को अनात्म कहा, उसी प्रकार बौद्ध आगमों में भी देह, इन्द्रियाँ और उनके विषय— शब्द, रूप, गन्ध, रस, स्पर्श तथा मन आदि को अनात्म कहा गया है तथा दोनों विचारणाओं ने साधक के लिए यह स्पष्ट निर्देश किया कि वह उनमें आत्मबुद्धि न रखे। लगभग समान शब्दों और शैली में दोनों ही अनात्मभावना या भेद-विज्ञान की अवधारणा को प्रस्तुत करते हैं, जो तुलनात्मक दृष्टि से अध्ययनकर्ता के लिए अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। आपने जैन साधना में भेदाभ्यास की इस धारणा का आस्वादन किया, अब जरा इसी सन्दर्भ में बुद्ध-वाणी के निर्झर में भी अवगाहन कीजिये; बुद्ध कहते हैं[४]—

'भिक्षुओं! चक्षु अनित्य है जो अनित्य है वह दु:ख है, जो दु:ख है वह अनात्म है, जो अनात्म है न मेरा है, न मैं हूँ, न मेरी आत्मा है, इसे यथार्थत: प्रज्ञापूर्वक जान लेना चाहिए।

'भिक्षुओं! प्राण अनित्य है, जिह्वा अनित्य है, काया अनित्य

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

है, मन अनित्य है, जो अनित्य है वह दु:ख है, जो दु:ख है वह अनात्म है, जो अनात्म है, वह न मेरा है, न मैं हूँ, न मेरी आत्मा है, इसे यथार्थत: प्रज्ञापूर्वक जान लेना चाहिए।

'भिक्षुओं! रूप अनित्य है, जो अनित्य है वह दु:ख है, जो दु:ख है वह अनात्म है, जो अनात्म है वह न मेरा है, न मैं हूँ, न मेरी आत्मा है, इसे यथार्थत: प्रज्ञापूर्वक जान लेना चाहिए।

'भिक्षुओं! शब्द, अनित्य है, जो अनित्य है वह दु:ख है जो दु:ख है वह अनात्म है, जो अनात्म है वह न मेरा है, न मैं हूँ, न मेरी आत्मा है, इसे यथार्थत: प्रज्ञापूर्वक जान लेना चाहिए।

'भिक्षुओं! इसे जानकर पण्डित, आर्यश्रावक चक्षु में वैराग्य करता है, श्रोत्र में, घ्राण में, जिह्वा में, काया में, मन में वैराग्य करता है। वैराग्य करने से, रागरहित होने से विमुक्त हो जाता है, विमुक्त होने से विमुक्त हो गया ऐसा ज्ञात होता है। जाति क्षीण हुई, ब्रह्मचर्य पूरा हो गया, जो करना था सो कर लिया, पुन: जन्म नहीं होगा यह जान लेता है।

भिक्षुओं! इसे जानकर पण्डित आर्यश्रावक अतीत के रूप में भी अनपेक्ष होता है, अनागत रूप आदि का अभिनन्दन नहीं करता और वर्तमान रूप आदि के निर्वेद, विराग और निरोध के लिए यत्नशील होता है'।

इस प्रकार हम देखते हैं कि दोनों विचारणाएँ भेदाभ्यास या अनात्म भावना के चिन्तन में एक-दूसरे के अत्यन्त समीप आ जाती हैं। बौद्ध विचारणा में समस्त जागतिक उपादानों को 'अनात्म' सिद्ध करने का आधार है— उनकी अनित्यता एवं तज्जनित दु:खमयता। जैन विचारणा ने अपने भेदाभ्यास की साधना में जागतिक उपादानों में अन्यत्व भावना का आधार उनकी संयोगिकता को माना है, क्योंकि यदि सभी संयोगजन्य हैं तो निश्चय ही संयोगकालिक होगा और इस आधार पर वह अनित्य भी होगा।

बुद्ध और महावीर दोनों ने ज्ञान के समस्त विषयों में 'स्व' या 'आत्मा' का अभाव पाया और उनमें ममत्व-बुद्धि के निषेध की बात कही, लेकिन बुद्ध ने साधनात्मक जीवन की दृष्टि पर विश्रान्ति लेना उचित समझा, उन्होंने साधक को यही बताया कि तुझे यह जान लेना है कि 'पर' या अनात्म क्या है, 'स्व' को जानने का प्रयास करना ही व्यर्थ है। इस प्रकार बुद्ध ने मात्र निषेधात्मक रूप में अनात्म का प्रतिबोध कराया, क्योंकि आत्मा के प्रत्यक्ष में उन्हें अहं, ममत्व या आसक्ति की ध्वनि प्रतीत हुई। जबकि महावीर की परम्परा ने अनात्म के निराकरण के साथ आत्म की स्वीकृति भी आवश्यक मानी। पर या अनात्म का परित्याग और स्व या आत्म का ग्रहण यह दोनों प्रत्यय जैन विचारणा में स्वीकृत रहे हैं। आचार्य कुन्दकुन्द सयमसार[५] में लिखते हैं कि इस शुद्धात्मा को जिस तरह पहले प्रज्ञा से भिन्न किया था, उसी तरह प्रज्ञा के द्वारा ग्रहण करना। लेकिन जैन और बौद्ध परम्पराओं का यह विवाद इसलिए अधिक महत्त्वपूर्ण नहीं है कि बौद्ध परम्परा ने आत्म शब्द से 'मेरा' अर्थ ग्रहण किया जबकि जैन परम्परा ने आत्मा को 'परमार्थ' के अर्थ में ग्रहण किया। वस्तुत: राग का प्रहाण हो जाने पर 'मेरा' तो शेष रहता ही नहीं है, जो कुछ रहता है वह मात्र परमार्थ होता है। चाहे उसे आत्मा कहें, चाहे उसे शून्यता, विज्ञान या परमार्थ कहें, अन्तर शब्दों में हो सकता है, मूल भावना में नहीं।

गीता में आत्म-अनात्म विवेक (भेद-विज्ञान)

गीता का आचार दर्शन अनासक्त दृष्टि से उदय और अहं के विगलन को साधना का महत्त्वपूर्ण तथ्य मानता है; लेकिन यह कैसे हो? डॉ०राधाकृष्णन् के शब्दों में हमें उद्धार की उतनी आवश्यकता नहीं है जितनी अपनी वास्तविक प्रकृति को पहचानने की,[६] लेकिन अपनी वास्तविक प्रकृति को कैसे पहचाना जाए? इसके साधन के रूप में गीता भी भेद-विज्ञान को स्वीकार करती है। गीता का तेरहवाँ अध्याय हमें इसी भेद-विज्ञान को सिखाता है, जिसे गीताकार की भाषा में 'क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ-ज्ञान' कहा गया है। गीताकार ज्ञान की व्याख्या करते हुए कहता है कि 'क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ को यथार्थ रूप में जानने वाला ज्ञान ही वास्तविक ज्ञान है'।[७] गीता के अनुसार शरीर क्षेत्र है और इसको जानने वाली ज्ञायक स्वभाव युक्त आत्मा ही क्षेत्रज्ञ है। वस्तुत: समस्त जगत् जो ज्ञान का विषय है, वह क्षेत्र है; और परमात्मस्वरूप विशुद्ध आत्मतत्त्व ही ज्ञाता है, क्षेत्रज्ञ है।[८] इन्हें क्रमश: प्रकृति और पुरुष भी कहा जाता है। गीता के अनुसार क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ, प्रकृति और पुरुष या अनात्म और आत्म का यथार्थ विवेक या भिन्नता का बोध कर लेना ही सच्चा ज्ञान है। गीता में सांख्य शब्द का ज्ञान के अर्थ में प्रयोग हुआ है और उसकी व्याख्या में आचार्य शङ्कर ने यही दृष्टि अपनायी है। वे लिखते हैं कि 'यह त्रिगुणात्मक जगत् या प्रकृति ज्ञान के विषय हैं, मैं उनसे भिन्न हूँ (क्योंकि ज्ञाता और ज्ञेय, दृष्टि और दृश्य एक नहीं हो सकते), उनके व्यापारों का द्रष्टा या साक्षी मात्र हूँ, उनसे विलक्षण हूँ, इस प्रकार आत्मस्वरूप का चिन्तन करना ही ज्ञान है। ज्ञायक स्वरूप आत्मा को अपने यथार्थ स्वरूप के बोध के लिए जगत् के जिन अनात्म तथ्यों से विभेद स्थापित करना होता है वे हैं— पञ्च महाभूत, देह अहंभाव, विषययुक्त बुद्धि, सूक्ष्म प्रकृति, पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, पाँच कर्मेन्द्रियाँ, मन, पाँचों इन्द्रियों के विषय-ईर्ष्या, द्वेष, सुख, दु:ख, सुख-दु:खादि भावों की चेतना आदि। ये सभी क्षेत्र हैं अर्थात् ज्ञान के विषय हैं और इसलिए ज्ञायक आत्मा इनसे भिन्न है'।[९] गीता यह मानती है कि 'आत्म का अनात्म से अपनी भिन्नता का बोध नहीं होना ही बन्धन का कारण है।' जब वह पुरुष प्रकृति से उत्पन्न हुए त्रिगुणात्मक पदार्थों को प्रकृति में स्थित होकर भोगता है तो अनात्म प्रकृति में आत्मबुद्धि के कारण ही वह अनेक अच्छी-बुरी योनियों में जन्म लेता है'।[१०] दूसरे शब्दों में अनात्म में आत्मबुद्धि करके जब उसका भोग किया जाता है तो उस आत्मबुद्धि के कारण ही आत्मा बन्धन में आ जाती है। वस्तुत: इस शरीर में स्थित होती हुई भी आत्मा इससे भिन्न ही है, यही परमात्मा कही जाती है।[११] पर परमात्मस्वरूप आत्मा शरीर आदि विषयों में आत्मबुद्धि करके ही

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

बन्धन में रहती है, अत: जब भी इस भेद-विज्ञान के द्वारा अपने यथार्थ स्वरूप का बोध हो जाता है वह मुक्त हो जाती है। अनात्म में रही हुई आत्मबुद्धि को समाप्त करना यही भेद-विज्ञान है और यही क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ-ज्ञान है। इसी के द्वारा अनात्म एवं आत्म के यथार्थ स्वरूप का बोध होता है और यही मुक्ति का मार्ग भी है। गीता कहती है— 'जो व्यक्ति अनात्म त्रिगुणात्मक प्रकृति और परमात्मस्वरूप ज्ञायक आत्मा के यथार्थ स्वरूप को तत्त्व-दृष्टि से जान लेता है वह संसार में रहता हुआ भी तत्त्व रूप से इस संसार से ऊपर उठ जाता है, वह पुर्नजन्म को प्राप्त नहीं होता है'।[१२]

इस प्रकार हम देखते हैं कि जैन विचारणा के समान गीता भी इसी आत्म-अनात्म-विवेक पर बल देती है। दोनों के निष्कर्ष समान हैं। शरीरस्थ ज्ञायक स्वरूप आत्मा का बोध कर लेना, यही दोनों आचार दर्शनों का मन्तव्य है। गीता में श्रीकृष्ण ज्ञान-असि के द्वारा अनात्म में आत्मबुद्धि रूप जो अज्ञान है उसके छेदन का निर्देश करते हैं, तो समयसार में आचार्य कुन्दकुन्द प्रज्ञा-छैनी से इस आत्म और अनात्म (जड़) को अलग-अलग करने की बात करते हैं।[१३, १३अ]

इस तरह हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि जैन, बौद्ध और गीता सभी में भेद-विज्ञान, अनात्म-विवेक या क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ-ज्ञान ज्ञानात्मक साधना का लक्ष्य है। यह निर्वाण की उपलब्धि का एक आवश्यक अङ्ग है। जब तक अनात्म में आत्मबुद्धि का परित्याग नहीं होगा तब तक आसक्ति समाप्त नहीं होगी और आसक्ति के समाप्त न होने से निर्वाण या मुक्ति की उपलब्धि नहीं होगी। आचाराङ्गसूत्र में कहा गया है— जो 'स्व' से अन्यत्र दृष्टि नहीं रखता वह 'स्व' से अन्यत्र रमता भी नहीं है और जो 'स्व' से अन्यत्र रमता नहीं है वह 'स्व से अन्यत्र दृष्टि भी नहीं रखता है।[१४]

इस आत्म-दृष्टि का उदय भेद-विज्ञान के द्वारा ही होता है और भेद-विज्ञान की कला से निर्वाण या परमपद की प्राप्ति होती है।

सन्दर्भ :

१. केनोपनिषद्, प्रका०— संस्कृति संस्थान, बरेली, १/४।
२. समयसार, कुन्दकुन्द, प्रका०- अहिंसा प्रकाशन मन्दिर, दरियागंज, देहली, १९५९, ३९२-४०२।
३. नियमसार, अनु०- अगरसेन, प्रका०- अजिताश्रम, लखनऊ, १९६३, ७७-८१।
४. संयुक्तनिकाय, संपा०- भिक्षु जगदीश काश्यप एवं भिक्षु धर्मरक्षित, प्रका०- महाबोधिसभा, सारनाथ, वाराणसी, १९५४, परिच्छेद-४, चक्खुसुत्त, २४/१-१०।
५. समयसार, कुन्दकुन्द, अहिंसा प्रका०- प्रकाशन मन्दिर, दरियागंज, देहली, १९५९, २९६।
६. भगवद्गीता, डॉ॰राधाकृष्णन्, अनु०- विराज, प्रका०- राजपाल एण्ड सन्स, देहली, १९६२, पृष्ठ ५४३।
७. गीता, प्रका०- गीता प्रेस, गोरखपुर, वि०सं० २०१८, १३/२।
८. वही, १३/२।
९. वही, १३/५-६।
१०. वही, १३/२१।
११. वही, १३/२१।
१२. वही, १३/२३।
१३. वही, ४/४३।
१३अ. समयसार, कुन्दकुन्द, प्रका०- अहिंसा प्रकाशन मन्दिर, दरियागंज देहली, १९५९, २९४।
१४. आचाराङ्गसूत्र, संपा०- मधुकर मुनि, प्रका०- श्री आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर, १९८०, १/२/६।

●

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org